

## पारम्परिक सांस्कृतिक मूल्यों का पर्यावरण संरक्षण में योगदान

सुनील नौटियाल, आर० के० मैखुरी<sup>1</sup> एवं के० एस० राव<sup>2</sup>

यूनिवर्सिटी ऑफ टोकियो, जापान

<sup>1</sup> गोविन्द बल्लभ पंत हिमालय पर्यावरण एवं विकास संस्थान, गढ़वाल यूनिट,  
श्रीनगर गढ़वाल, 246 174

<sup>2</sup> सिस्मी, दिल्ली यूनिवर्सिटी, साउथ कैम्पस, बेनिटो जार्ज रोड, नई दिल्ली 110 021

### भूमिका

पर्यावरण आज के वैज्ञानिक युग में प्रयुक्त होने वाला एक सामान्य सा शब्द हो गया है जिसे हर कोई वक्त-बेवक्त अपने-अपने ढंग से परिभाषित कर रहा है, व साथ ही साथ पर्यावरण संरक्षण हेतु सुझाव व पर्यावरणीय असंतुलन हेतु दुश्चिन्ताओं पर दृष्टिपात भी कर रहा है। पर्यावरण वस्तुतः दो शब्दों से मिलकर बना है, परि+आवरण। परि का शाब्दिक अर्थ है = “चारों ओर” और आवरण का अर्थ है “आच्छादन”। अर्थात् अपने चारों ओर का वह आवरण जो जीवन को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। यदि वर्तमान परिपेक्ष्य में देखा जाय तो क्या पर्यावरण ऐसा शब्द है जो आज विकृत रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है, या कहीं ऐसा तो नहीं कि पर्यावरण तथा सभी जायज दुश्चिन्ताओं के प्रति आधुनिक मानव स्वयं ही जिम्मेदार है। मूलतः पर्यावरण संरक्षण में मानव मूल्यों का जो योगदान रहा है, उनमें कमी आयी है और परिणामतः पर्यावरण वीभत्स रूप में आज सबके सम्मुख खड़ा है।

पारिस्थितिक-विद् “हर्सकोविट्स” के अनुसार पर्यावरण “सम्पूर्ण बाह्य परिस्थितियों और उनका जीवधारियों पर पड़ने वाला प्रभाव है”, जो जैविक जगत के जीवन चक्र का नियामक है। पर्यावरण को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है

1. सामाजिक पर्यावरण
2. प्राकृतिक पर्यावरण

सामाजिक पर्यावरण का शाब्दिक अर्थ है समाज का वातावरण एवं प्रभाव जो समाज को उत्कृष्ट दिशा देते हैं और प्राकृतिक पर्यावरण में प्राकृतिक परिदृश्यो, नदी, पहाड़, भूमि, जलवायु इत्यादि सभी आते हैं। यदि समन्वित दृष्टिकोण से देखा जाय तो पर्यावरण के उपरोक्त दोनों घटक एक ही हैं, किन्तु वर्तमान परिपेक्ष्य में प्राकृतिक पर्यावरण का धीरे-धीरे ह्रास होता जा रहा है। कारण— मानव के जो कर्तव्य पर्यावरण संरक्षण की दिशा में थे उनमें स्वाभाविक रूप से कमी आती जा रही है। विश्व पर्यावरण आयोग 1987 के अनुसार प्रति वर्ष विश्व में 110 लाख हेक्टेयर वन नष्ट होते जा रहे हैं। वहीं वृक्ष (वन के अवयव को) को कठोपनिषद् में निम्नलिखित रूप से परिभाषित किया गया है— ओउम् शनिदेवो अभिष्टो आपो भवन्तु न पिवते, मूले ब्रह्मा त्वचा विष्णु, शाखायाम् तु शंकरम्, पत्रे-पत्रे देवानाम् वृक्ष राज नमस्तुते।

वन एवं वृक्ष को देवता मानकर हमारी सांस्कृतिक मान्यता पर्यावरण संरक्षण को वैज्ञानिक आधार देती है। आज अधिकांश पवित्र-वृक्ष एवं पवित्र-वन इसी कारण मानव हित हेतु जगह-जगह संरक्षित हैं, और आज भी उनके प्रति आज के मानव का ममत्व भाव है। साथ ही साथ विश्व पर्यावरण आयोग (1987) यह भी चिन्हित करता है कि 60 लाख हेक्टेयर उपजाऊ युक्त भूमि अनुपयोगी होती जा रही है। जबकि मानव ने अपना अमूल्य योगदान भूमि के प्रबन्धन हेतु भी दिया है व इसको आज उपेक्षित किया जा रहा है। प्रकृति में जहां-जहां भी जैव विविधता का भण्डार है और साथ ही वह क्षेत्र संवेदनशील भी है वहां भी सरल प्रयासों जैसे कि पर्वत पूजा से पारिस्थितिक तन्त्र को संरक्षित किया जाता रहा है। पर्वतों के संसाधनों का उपयोग एक निश्चित समय सीमा के अन्दर ही किया जाता है।

### मानवीय सोच एवं पर्यावरण संरक्षण

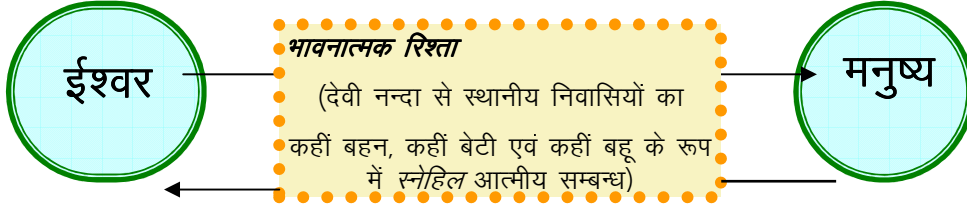
#### देव-वन

संसार भर में विद्यमान किसी भी वन भूमि/सामुदायिक भूमि को देव-वन घोषित करने के पीछे हमारे पूर्वजों की जो सोच थी वह मनुष्य के मन में प्रकृति के प्रति प्यार, त्याग एवं निष्ठा की भावना पैदा कर सामाजिक नियम कानूनों एवं परम्परागत विश्वासों द्वारा आसानी से प्राकृतिक अधिवासों को संरक्षित करना था। और उसके परिणाम आज भी सामने हैं। जहां-जहां देव-वन विद्यमान हैं, वहां के निवासियों के मन में उन वनों के प्रति कोई भी वैमनस्य/मनमुटाव का भाव नहीं

है। किन्तु आज जहाँ भी संरक्षित क्षेत्र (जिसे कि देव-वन की अवधारणा को ही आधार मानकर वैज्ञानिक रूप में स्थापित किया जा रहा है) वहाँ के निवासियों का उस संरक्षित क्षेत्र की तरफ कोई सकारात्मक दृष्टिकोण नहीं है और न ही ऐसे संरक्षित क्षेत्र सफल कहे जा रहे हैं। अतः आज का समाज भी उन्हीं मूल्यों का ऋणी है जिन्हें पूर्वजों ने चुकाया था।

### मध्य हिमालय का ऐतिहासिक महाकुम्भ

महाकुम्भ जिसमें कि प्रकृति एवं संस्कृति को साथ लेकर आज भी पर्यावरण संरक्षण के प्रति सच्ची निष्ठा दृष्टिगोचर होती है। नन्दा राजजात के गहन अध्ययन से उसके सांस्कृतिक महत्व के साथ-साथ विराट पर्यावरणीय महत्व भी दृष्टिगोचर होता है। यदि नन्दा राजजात को केवल सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो उसे निम्न प्रकार चित्रित किया जा सकता है।



यदि परम्परागत ज्ञान को महत्व देते हुए उसे पारिस्थितिक परिपेक्ष्य में देखा जाय तो उसका महत्व बरबस ही वर्तमान में पर्यावरण संरक्षण की अवधारणा की तरफ ध्यान आकृष्ट कर देता है।

अतः यह न केवल एक ऐसा सांकेतिक पहलू है जो लोगों को सामूहिक सांस्कृतिक एकता की ओर खींचता है, अपितु पर्यावरणीय नीतियों का निर्धारण भी है, जो स्थानीय निवासियों के जीवकोपार्जन से भी सम्बन्धित है (नौटियाल इत्यादि, 2001)।

### पर्वतपूजा

मध्य हिमालय में कहीं-कहीं पर्वत शिखरों की प्रति-वर्ष पूजा की जाती है व पर्वतों से बेमौसम जड़ी-बूटियाँ निकालना पाप समझा जाता है। क्योंकि वहाँ के निवासियों की मान्यताओं के अनुसार ऐसा करने से प्राकृतिक आपदायें आ सकती हैं। गांव के लोग प्राकृतिक आपदाओं के लिए बेमौसम जड़ी-बूटी लेने वालों को कोसते हैं। इसके पीछे भी मानव जाति के कल्याण हेतु पर्यावरण का संरक्षण ही निहित है। हो सकता है, पर्वत से जड़ी बूटियों को संरक्षित करने की यह उनकी अपनी एक विशेष प्रकार की परम्परागत संरक्षण की पद्धति हो। क्षेत्र के निवासियों के अनुभवी और दूर-दृष्टि वाले पूर्वजों को यह आभास जरूर रहा होगा कि भविष्य में मानव अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए प्रकृति के साथ क्रूर व्यवहार भी कर सकता है जिससे पर्यावरण असंतुलित हो सकता है। अतः हम कैसे इस क्षेत्र की उस सम्पदा को बचायें जिसे हम वर्षों से अपने पसीने से सींचते आ रहे हैं, सम्भवतः यही सोच कर उन्होंने आरम्भ की होगी पर्वत-पूजा।

### प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की समय सीमा एवं कुछ मौलिक नियम

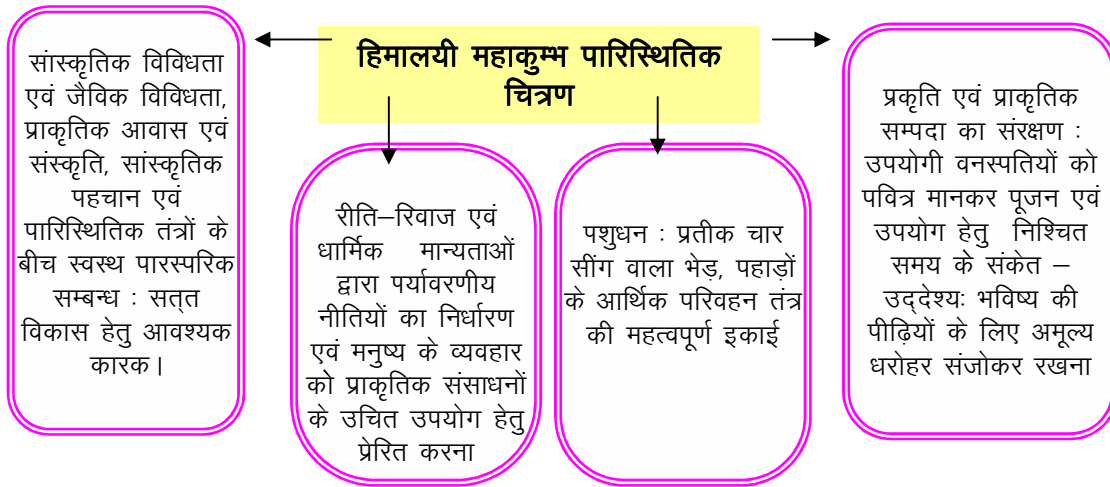
सितम्बर के आखिरी सप्ताह से पहले किसी को भी जंगली पादपों के दोहन की सख्त मनाही होती थी और उस पर भी उन्हें सबसे पहले अपने देवालयों में चढ़ाया जाता रहा। कारण : क्योंकि तब तक सभी पादप लगभग परिपक्वता पर पहुँच चुके होते हैं और बीजों का प्रकीर्णन होना भी शुरू हो जाता है साथ ही साथ बीजों को एकत्र कर भविष्य के लिए भी सुरक्षित रखा जा सकता है।

चटकीले, रंगीन वस्त्रों को पहनकर बुग्यालों में जाने पर सख्त मनाही होती थी यदि कोई पालन नहीं करेगा तो चेतावनी परियाँ (स्थानीय भाषा में आछरी) प्राण हर लेती है। इसके पीछे छिपा तथ्य यह है कि चटकीले रंग परागण करने वाले कीटों को बाधा पहुँचा सकते हैं जो कि बुग्यालों में पहले ही बहुत न्यून संख्या में होते हैं। शोर पर सख्त मनाही यहाँ तक कि ढोल, दमाऊं ( परम्परागत वाद्य यन्त्रों ) का उपयोग भी नहीं कर सकते। इसके पीछे यह कारण था कि परागण करने वाले कीटों को हानि एवं परागण में बाधा हो सकती है। यह दुर्लभ पारिस्थितिक तंत्रों के पर्यावरण को संरक्षित करने के आसान उपाय थे। (नौटियाल इत्यादि, 2001)।

### पारम्परिक कृषि

हिमालय के पारम्परिक कृषि फसल-चक्रों के उचित प्रबन्धन द्वारा मृदा की उर्वरता को बनाये रखने हेतु आज भी बदस्तूर जारी है, कहीं-कहीं पर (शोध द्वारा प्रमाणित) जहाँ कि परम्परागत कृषि की अवहेलना की गयी, व

फसल-चक्रों के साथ अनावश्यक छेड़-छाड़ की गयी वहां पर मृदा में आत्मघाती असंतुलन पैदा हुआ है। कृषि में पारम्परिक उपज प्रजातियों का महत्वपूर्ण योगदान है। जो उपज प्रजातियाँ जहां उगायी जा रही हैं वे वहीं उगें क्योंकि उन प्रजातियों में उस स्थान विशेष की जलवायु/पर्यावरण के अनुसार अनुकूल क्षमता आ जाती है। स्थानीय भाषा में सभी जगह प्रायः सभी उपज प्रजातियों के नाम महिलाओं के नाम पर ही रखे जाते थे। यथा मध्य हिमालय में ही लें तो झुमरी, बिन्दुली, जिरुली, नन्दिनी, राजमति इत्यादि। धान की प्रजातियों को महिला रूप में सम्बोधन देने के पीछे कारण यह था कि किसी भी प्रजाति को बहू-बेटी के रूप में मानकर उसकी गुणवत्ता बनाये रखना व सत्त उपज के लिए प्रयासरत रहना। किन्तु आज इस पुरातन मानवीय विचार धाराओं का आधुनिक मानव अवहेलना कर स्वयं ही जाल में फंसता चला जा रहा है। और इसी का परिणाम है कि प्रति वर्ष विश्व भर में 60 लाख हेक्टेयर उपजाऊ भूमि मरुस्थल में बदलती जा रही है। और सम्पूर्ण भारत में उगाये जाने वाली 30,000 धान की उपज प्रजातियाँ आज 200-250 तक सिमट कर रह गयी हैं। फलस्वरूप कृषि तंत्र पर गहरा संकट पैदा होना शुरू हो गया है।



### मांसाहार पर प्रतिबन्ध

माघ (फरवरी-मार्च) एवं सावन (अगस्त-सितम्बर) के महीनों में मांसाहार वर्जित होता है। कारण : बहुत से पशु-पक्षियों (जलचर/स्थलचर) में क्रमशः गर्भाधान एवं सन्तति उत्पन्न करने का यही समय होता है। यदि इन महीनों में मांसाहार पर रोक नहीं लगायी जाय तो पशु-तंत्र के अस्तित्व पर संकट पैदा हो सकता था और पर्यावरणीय असंतुलन पैदा हो सकता था। अतः इन विचार धाराओं को समाज में लागू किया गया। (नौटियाल इत्यादि, 2001)।

### देवालयों में हवन

मन्दिरों में हवन करना व "ओउम् वनस्पतिः शान्तिः" का उच्चारण कर स्वाहा कहना वनस्पतियों के कल्याण हेतु स्वास्तिकावाचन का बोध कराता है। जो भी हम मन्दिरों के हवन कुण्ड में अर्पित करते हैं उसका तात्पर्य यह है कि इसके अग्नि में जलने के पश्चात् जो वायु, वायुमण्डल की तरफ जाये वह भी वनस्पतियों के कल्याण हेतु जाये व उत्पन्न कार्बन डाइआक्साइड को पेड़-पौधे ग्रहण कर पर्यावरण को समृद्धि दें।

किसी भी वन क्षेत्र, चारागाह एवं सामूहिक भूमि की पोषक क्षमता के प्रबन्धन हेतु मन्दिरों में पशुओं का बलिदान किया जाता है उनमें से भी नर पशु यथा: बकरा, भेड़ा, भैंसा इत्यादि को आज भी मुख्यतः देवालयों में चढ़ाया जाता है व मादा को नहीं। क्योंकि अधिक संख्या में नर पशु जिनको कि सन्तति उत्पन्न करने के अतिरिक्त अन्य उपयोग में नहीं लाया जा सकता है उन्हीं का बलिदान किया जाता है। जिससे कि भूमि की पोषक क्षमता पर अतिरिक्त दबाव न पड़े।

### चिपको आन्दोलन की परिकल्पना एवं वर्तमान प्राकृतिक दुर्घटनायें

उत्तराखण्ड के रैणी ग्राम में जन्मा बहुचर्चित चिपको आन्दोलन केवल पेड़ों को काटने से ही रोकना नहीं था, वरन एक उत्कृष्ट विचार भी था जिसका सार्वभौमिक परिणाम भविष्य की पीढ़ियों को प्राकृतिक संसाधनों से परिपूर्ण करना था। साथ ही साथ इसमें संवेदनशील स्थानों का संरक्षण एवं चिरस्थाई सुरक्षा सम्बन्धी जीवन्त विचार भी समाहित थे।

किन्तु आज हिमालय वर्ती क्षेत्र में प्राकृतिक संसाधनों का निहित स्वार्थ हेतु अंधाधुंध दोहन से कई पर्यावरणीय समस्यायें सामने आ रही हैं। बहुत दूर न जाकर निकट पूर्व में हुए **मालपा** और **ऊखीमठ** के भयावह भूस्खलन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन्हीं मौलिक मूल्यों के ह्रास के परिणाम हैं।

उड़ीसा के समुद्रतटीय भागों में भयंकर चक्रवात की आवृत्ति शनैः शनैः बढ़ती जा रही है जिससे अपूरणीय क्षति होती है। इसका कारण वहां पर मैंग्रव वनस्पतियों (Mangrove vegetation) का तीव्रता से दोहन होना है। इस प्रकार की दुर्घटनाओं को केवल एक उत्कृष्ट मानवीय सोच द्वारा ही रोका जा सकता है। एशिया में 26 दिसम्बर 2004 को विनाशकारी सुनामी लहरों के तांडव से जो जन-धन की हानि हुई वो कुछ हद तक कम हो सकती थी यदि समुद्री तटों की ओर अनावश्यक अतिक्रमण न किया जाता तथा तटीय वनस्पतियों (पेड़-पौधे) का संरक्षण किया जाता। अतः वर्तमान परिपेक्ष्य में यहाँ नितान्त आवश्यक हो गया है कि हमारी पिछली पीढ़ियों द्वारा पर्यावरण को संरक्षित और सम्वर्धित करने की दिशा में जो योगदान किया गया उस पर गंभीरता से विचार कर क्रियान्वयन करने की आवश्यकता के साथ-साथ प्रकृति के साथ अनावश्यक अतिक्रमण का पुरजोर विरोध भी किया जाना चाहिए।

### निष्कर्ष

आज के इस वैज्ञानिक युग में जहां संस्कृति, परम्परागत ज्ञान-विज्ञान एवं प्रकृति-मानव अन्तर्सम्बन्धों तथा लोगों के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिवेश में हो रहे परिवर्तनों से मानवहित हेतु निर्धारित किए गये अमूल्य मानवीय मूल्यों का, प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से धीरे-धीरे ह्रास होता चला जा रहा है। आज हर जगह जहां सरकारी तंत्र अपनी भागीदारी स्वयं ही सुनिश्चित कर लोगों को उदासीनता की ओर अग्रसर कर रहे हैं, वहीं पर्यावरण संरक्षण की अमूल्य विचारधाराओं को नजर अंदाज किया जा रहा है। पर्यावरण संरक्षण हेतु ऐसा नहीं कि सरकारी तंत्र द्वारा जो भी क्रिया-कलाप किये जा रहे हैं, वह मानव हित में न हों। संरक्षण में भी मानव एवं उसके सम्पूर्ण पर्यावरण का ही हित है।

किन्तु आज के परिपेक्ष्य में किसी भी स्थान विशेष की विचारधाराएं उस स्थान के मानव-प्रकृति अन्तर्सम्बन्धों अर्थात् पर्यावरण-संरक्षण की दिशा में बाह्य कारकों द्वारा थोपी गई नीतियों की तुलना में अत्यधिक प्रभावकारी हैं। यदि मानव मूल्यों का एक उत्कृष्ट ढंग से मूल्यांकन किया जाय और उन्हीं को स्थान विशेष के हित में देखकर क्रियान्वयन हेतु बढ़ावा दिया जाय, तो आज की शिक्षित पीढ़ी पर्यावरण संरक्षण में अपना कहीं अधिक योगदान दे सकती है।

यही समय है जब सरकारी तंत्र को पर्यावरण संरक्षण हेतु मानव मूल्यों की प्राथमिकता के बारे में गम्भीरता से सोचना है। राजनीति एवं सरकारी तंत्र को अपनी अनावश्यक भागीदारी से स्वयं को किनारा कर स्थान विशेष के निवासियों को प्रोत्साहित कर पर्यावरण संरक्षण हेतु पूरा नियंत्रण का अधिकार दे देना चाहिए। कई बार यह होता है कि किंचित राजनीतिक कारणों से सरकारी तंत्र की भागीदारी से स्थान विशेष के निवासी स्वयं को अलग-थलग एवं उदासीन महसूस करने लगते हैं, और उनमें अपने चारों ओर के आवरण अर्थात् पर्यावरण के संरक्षण हेतु यह सोच पैदा हो जाती है, कि शायद हमारे कर्तव्यों से ऊपर सरकार के कर्तव्य हैं जो कि पर्यावरण संरक्षण हेतु जिम्मेदार हैं। उदाहरणार्थ जो कभी हमारे धार्मिक पर्यटन हुआ करते थे, व चाहे किसी भी देश एवं धर्म का व्यक्ति यदि हिमालयी क्षेत्रों में आता था तो स्थानीय निवासियों को साथ लेकर स्थानीय रीति-रिवाजों की सीमा के अन्तर्गत स्वयं की यात्रा उनके निर्देशन में पूरा करता था। उस तरह के पर्यटन से कभी भी पर्यावरणीय असंतुलन पैदा होने का खतरा नहीं महसूस किया गया। किन्तु आज वहीं धार्मिक पर्यटन को साहसिक पर्यटन के रूप में बढ़ावा देने से जगह-जगह पर्यावरणीय असंतुलन हुआ है। इन खतरों को देखते हुए सख्त नियम कानून लागू करना, और अंत में स्थानीय निवासियों के साथ मतभेद पैदा कर इस असंतुलन को और भी बढ़ावा दिया जा रहा है। यह तो एक उदाहरण है, अन्य भी कई मौलिक नियम जगह-जगह नजरअंदाज किये जा रहे हैं।

अतः पर्यावरण संरक्षण के लिए इस दिशा में विद्वानों, स्वयंसेवी संस्थाओं, वैज्ञानिकों, एवं स्थानीय निवासियों को गम्भीरता से पर्यावरणीय संरक्षण की भागीदारी में अपनी-अपनी भूमिका सुनिश्चित करनी होगी, और मानवीय मूल्यों एवं धार्मिक, सामाजिक पद्धतियों को महत्व देते हुए और उनकी उपयोगिता को वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर ही पर्यावरण संरक्षण के उद्देश्यों की उपलब्धियों को प्राप्त किया जा सकता है।

### संदर्भ

नौटियाल, एस0, के0एस0 राव, आर0के0 मैखुरी एवं ए0 पुरोहित, (2001)। ऐतिहासिक नन्दा राज जात- प्रकृति एवम् संस्कृति का पारस्परिक सम्बन्ध: विगत और वर्तमान स्वरूप। इनविस बुलेटिन ,हिमालय इकोलाजी एंड डेवलपमेंट 9(2): 75-91.

